अनन्तर/जनसत्ता/29 जुलाई, 2007

हिंदी में राग-विराग

ओम थानवी

आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन का वह आखिरी दिन था। सम्मेलन की गहमागहमी में मायूसी बढ़ने लगी तो मैं बाहर निकल आया। अच्छी हिंदी और कुछ सार्थक सुनने की गरज से बैठा था। नाउम्मीदी में भी उम्मीद का एक धागा टंगा होता है। लेकिन मन जल्दी ही उचट गया। बनावटी हिंदी और ओढ़े हुए विचार थे। इक्के-दुक्के से अपवाद। गोया हर दूसरा वक्ता किसी स्कूल-कॉलेज का प्रवक्ता हो या कोई हिंदी अधिकारी। ऐसी शुद्ध, अलंकृत और निरर्थक हिंदी आजकल सभा-संगोष्ठियों की शोभा बन चली है।

न्यूयॉर्क के फैशन प्रौद्योगिकी संस्थान के उस आलीशान भवन से मैं चुपचाप निकला, जहां सम्मेलन की गोष्ठियां आयोजित थीं। बगल से गुजरने वाली सातवें एवेन्यू की मुख्य सड़क पर पहुंचा। दाईं तरफ दक्षिण में डाउनटाउन की राह वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के 'ग्राउंड जीरो' तक ले जाती। सितंबर में आया तब वहां गया था। उसका खयाल ही गमगीन करता है। न्यूयॉर्क उस हादसे से अब तक हिला हुआ है। जैसे कल की घटना हो। उत्तर की तरफ नजर उठाई। उधर शहर का दिल थाः क्राइस्लर और एम्पायर स्टेट जैसी मशहूर इमारतें, चकाचौंध टाइम्स चौक, मॉडर्न आर्ट (मोमा) और मेट्रोपोलिटन संग्रहालय। और विशाल सेंट्रल पार्क।

परदेस में पैदल चलने का अपना लुत्फ है। जगहें तभी आमने-सामने होती हैं। हम चलते जाते हैं। शहर भीतर उतरता आता है। उसकी चाल, रंगत, गंध। और चेहरे। दौड़ती-हांफती, कहीं ठहरी हुई जिंदगी। रौनक से सराबोर बाजार। धक-धक धौंकनी वाले चौराहे। लक-दक रोशनी में रंग और अर्थ की संभावनाएं तिरोहित करते नामपट्ट। सफेदे के पेड़ों की तरह आसमान में सांस रोक कर खड़ी इमारतेंः आकर्षक और बेजान। अपनी भव्यता में लुभातीं और बेचारगी में सकुचाती हुईं।

मैनहट्टन- यानी न्यूयॉर्क खास- में सेंट्रल पार्क एक अजूबा है। साढ़े-आठ सौ एकड़ का उपवन। शहर के बीचोबीच। गगनचुंबी इमारतों के साये में सरकते हुए हम अचानक बाग की देहरी पर आ पहुंचते हैं। चार कदम ऊपर, फिर कुछ सीढ़ियां नीचे। एक ताल आता है। उसके इर्द-गिर्द झाड़ियों का झुरमुट। दूर पेड़ों का हुजूम। दुबके पक्षियों की चहचहाहट। जंतुओं की फुफकार। एक छोटा-सा झरना। लगता है इमारतों के जंगल से निकलकर सचमुच के जंगल में आ गए हों। शहर के पास, फिर भी कितने दूर!

बाग में भांति-भांति की गतिविधियां एक साथ चलती हैं। इधर बच्चों का मेला, उधर उनके अभिभावकों का जमघट। एक तख्ती पर पढ़ा कि खेल के इक्कीस मैदान इस बाग में हैं। नौ हजार बेंच। उन पर छब्बीस हजार पेड़ों की छाया। छह नितांत एकांतवास के बगीचे। इन्हीं में कहीं एक खाली बेंच मैंने अपने लिए तलाशी। इमारतों की ऊंचाई से बोझिल हुई आंखें निश्चल 'कछुआ-ताल' और ढलती शाम के बादलों के बीच सुकून ढूंढ़ती रहीं; पर मन फैशन प्रौद्योगिकी हॉल के आयोजन में जा डोला, जो तब तक शायद समापन की जद में पहुंच गया होगा।

सुरम्य उद्यान में हिंदी सम्मेलन की मायूसी को याद करने की दरकार न थी। हर तरह के गम जहां गलत हो जाते हों, वहां एक सरकारी आयोजन के लिए दुबला होने का क्या सबब!

मगर सबब था। असल में मैं इस सम्मेलन से शुरू से जुड़ा था। यही वजह थी कि सेंट्रल पार्क से शुरू हुए सोच-विचार का सिलसिला घर लौटने तक कायम रहा।

कम लोगों को पता होगा कि सम्मेलन की पहल विदेश मंत्रालय में नहीं हुई। इसका प्रस्ताव न्यूयॉर्क में भारतीय विद्याभवन के निदेशक डॉ. जयरामन ने तैयार किया था। पिछले साल, जनवरी में। उन्होंने इसे प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को भेजा। वहां से प्रस्ताव विदेश मंत्रालय में आया। इसकी प्रति भवन ने मुझे भेजी थी। मैंने विदेश राज्यमंत्री आनंद शर्मा से बात की। वे न्यूयॉर्क के नाम पर राजी थे, पर मेजबानी के बतौर वहां और संस्थाओं की शिरकत चाहते थे। बाद में उनका न्यूयॉर्क जाने का कार्यक्रम बना। उन्हीं दिनों में मुझे कनाडा जाना था। डॉ. जयरामन ने सुझाया अच्छा हो अगर न्यूयॉर्क आ सकूं। मैं न्यूयॉर्क पहुंचा। विद्याभवन में एक समारोह रखा गया। मंत्री उसमें आए। वहां सम्मेलन की उन्होंने घोषणा की। भवन के ठीक सामने सड़क के पार फैशन प्रौद्योगिकी की इमारत है। उसके हॉल में हजार लोग समा सकते हैं। सोचा गया कि आयोजन के लिए वह जगह मुफीद होगी।

विश्व हिंदी सम्मेलन भारतीय कूटनीति का एक हिस्सा है। ब्रिटिश काउंसिल, मैक्सम्युलर भवन या आलियांस फ्रांसे अपनी भाषा और संस्कृति का इसी तरह प्रचार करते हैं। भारत में बहुत-सी भाषाएं हैं। हिंदी को राजभाषा और संपर्क भाषा के रूप में बढ़ावा देने की मंशा रही है, इसलिए विदेशों में उसके प्रचार और भारतवंशी समुदाय को बांधने के लिए हिंदी सम्मेलन की कल्पना हुई। लेकिन जल्दी ही वह दिशाहीन और विचारशून्य अवधारणा साबित हुआ। वरना एक भाषाई जमघट की जगह वह सांस्कृतिक आयोजन के रूप में सार्थक आयोजन की शक्ल ले सकता था।

फिर भी चूंकि राष्ट्रसंघ की छह भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पानी, रूसी, चीनी और अरबी) को देखते हिंदी का दावा कई दलीलों से मजबूत बनता है, कूटनीति में एक भारतीय भाषा के राष्ट्रसंघ में

स्थायी जगह लेने के अपने निहितार्थ होंगे। इसलिए अगर न्यूयॉर्क को विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए चुना गया तो मेरी समझ में इसमें कोई उज्र न था। हिंदी के रोजगार में मैं ऐसे किसी भी कार्यक्रम की योजना में सहर्ष शामिल होता। हालांकि कूटनीति से ज्यादा इस मुद्दे पर राजनीति हावी है। राष्ट्रसंघ में आधिकारिक प्रस्ताव का मसविदा भारत सरकार ने अब तक तैयार नहीं किया है। देश में हिंदी की हालत दयनीय है। इस संदर्भ में तीसरे विश्व हिंदी सम्मेलन में व्यक्त महादेवी वर्मा के उद्‌गार बरबस याद आते हैं। उन्होंने कहा था कि भाषा की राष्ट्र में जड़ें हों, तभी अंतरराष्ट्रीय हुआ जा सकता है। वरना यह ऐसा ही होगा जैसे पेड़ को काट कर संगमरमर के चबूतरे पर रोप रहे हों।

इस बीच विदेश मंत्रालय ने तीन साल पहले सूरीनाम में हुए हिंदी सम्मेलन के संकल्पों के जायजे के लिए एक ''अनुवर्ती कार्रवाई समिति'' गठित की। विदेश राज्यमंत्री इसके अध्यक्ष थे। समिति के गैर-सरकारी सदस्यों में मुझे भी निमंत्रित किया गया। पांच महीने बाद न्यूयॉर्क सम्मेलन के आयोजन के लिए एक स्थायी (स्टियरिंग) समिति बनी। मुझे फिर इज्जत बख्शी गई। मगर जल्दी ही महसूस हो गया कि चाह कर भी कोई सम्मेलन को अपने रास्ते जाने से रोक नहीं पाएगा। सरकारी तंत्र का रंग-ढंग ऐसा ही होता है। समितियों में शामिल ज्यादातर सदस्य अप्रिय बात कहने से बचते हैं। इससे नीति-निर्धारकों को सही दिशा नहीं मिल पाती। सदस्यों को शायद यह चिंता रहती है कि कहीं उनकी विदेश यात्रा खटाई में न पड़ जाय।

बहरहाल, जाने-अनजाने मैंने शुरू से असंतुष्ट सदस्य की छवि बना ली। सूरीनाम सम्मेलन के जायजे वाली समिति की बैठकें ''समय-समय पर'' आयोजित होनी थीं। उस समिति की एक भी बैठक नहीं हुई। वह महत्त्वपूर्ण समिति थी। अतीत से सबक लिए बगैर हम आगे नहीं बढ़ सकते। मैंने बैठक की तरफ ध्यान दिलाया। पर उसका असर नहीं हुआ। इधर न्यूयॉर्क सम्मेलन की स्थाई यानी संचालन समिति की बैठकें शुरू हो गईं।

स्थायी समिति की पहली बैठक 28 नवंबर को हुई। उसकी कार्य-सूची देखकर मेरा माथा ठनका। उस रोज एडीटर्स गिल्ड की एक जरूरी बैठक भी थी। मैंने अपनी बात पहले रखने का आग्रह किया। पहली बैठक के उस पहले वक्तव्य के साथ अजीब-सा तनाव वहां खिंच गया। खासकर मुसलिम लेखकों की अनदेखी के मुद्दे पर।

बैठक की जो कार्य-सूची वितरित की गई थी, उसमें लिखा था कि सम्मेलन की तैयारी के सिलसिले में किए जाने वाले दस काम- प्रतीकचिह्न से लेकर मुख्य सम्मेलन और सत्र निर्धारण तक- उप-समितियों की ''सलाह'' से संपन्न होंगे। कार्य-सूची के साथ ऐसी छह उप-समितियों के प्रस्ताव का ब्योरा भी नत्थी था। इनमें एक समिति (लोगो निर्धारण) के सारे सदस्य सरकारी थे। बाकी पांच समितियों में तेईस गैर-सरकारी सदस्य थे। गुत्थी यह थी कि इन तेईस नामों का चयन किसने और कैसे

किया? साफ था कि इनके चयन के मामले से संचालन या स्थायी समिति को अलग रखा गया। संचालन समिति के गठन के बाद सरकारी दखल की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। पर हमारे यहां लोकतंत्र का आलम यह है कि संचालन समिति के मंतव्य को मंत्रालय से लेकर प्रधानमंत्री तक पलटते जाते हैं। और तो और, बाद में गठित उप–समितियां भी!

इस बात पर कइयों को हैरानी हुई कि सम्मेलन की हर गतिविधि– मुख्य सम्मेलन, सत्र निर्धारण, विद्वान–सम्मान, प्रचार प्रबंध, सांस्कृतिक कार्यक्रम, प्रदर्शनी आदि– पर अब विचार उन उप–समितियों को करना था, जिनका गठन अधिकारियों ने अपने स्तर पर कर लिया था। अंधेरे में बैठ गई सर्वोच्च संचालन समिति मुख्य सम्मेलन और शैक्षिक सत्रों के विषयों के संबंध में सिर्फ ''सुझाव'' दे सकती थी। कुछ सुझाव विदेशी हिंदी विद्वानों से मांगे जाने थे। इन सुझावों को संकलित कर ''प्रयोजनार्थ'' गठित की गई उप–समिति के ''अनुमोदनार्थ'' रखे जाने का प्रस्ताव था। आगे की (तीसरी) बैठक में यह भी सुनिश्चित किया गया कि ''उप–समितियों के निर्णय मान्य होने चाहिए ... (स्थायी समिति के) सदस्यों का अलग से कोई सुझाव हो तो वह दिया जा सकता है।''

निश्चय ही प्रस्तावित उप–समितियों में स्थायी समिति के कुछ सदस्य शामिल थे। चित्रा मुद्‌गल ''मान्य निर्णय'' वाली दो उप–समितियों में ली गईं। सम्मेलन व शैक्षिक सत्र वाली उप–समिति में स्थायी समिति से हास्य–कवि अशोक चक्रधर भी थे। उनके साथ कथाकार–संपादक मृणाल पाण्डे को रखा गया। लेकिन इन उप–समितियों के आधे से ज्यादा सदस्य बाहर से लिए गए। इनमें कन्हैयालाल नंदन, हिमांशु जोशी, गंगाप्रसाद विमल, गोपीचंद नारंग, शंभुनाथ, सुरेश ऋतुपर्ण और रवींद्र कालिया प्रमुख थे। मजा यह देखने में था कि कैसे कतिपय मध्यमार्गी लेखक पिछवाड़े से– मगर हैसियत में– यहां भी आ पहुंचे थे, जो हर यात्रा–पुरस्कार–सदस्यता आदि में अपनी निर्णायक (घुस) पैठ रखते हैं। इनमें जो काबिल थे क्या उन्हें शुरू से स्थायी समिति में शामिल नहीं किया जा सकता था?

मैंने बैठक में उप–समितियों के स्वरूप पर आपत्ति प्रकट की, साथ ही इस पर भी कि उप–समितियों में एक भी मुसलिम लेखक नहीं है। मैं इस ढंग से किसी चीज को देखना उचित नहीं समझता, लेकिन सिरे से एक समुदाय अलग दिखाई दे तो बात संदेहास्पद हो जाती है। भाजपा का शासन होता तो ऐसी बेरुखी में क्षुद्र कोण देखा जा सकता था। लेकिन प्रगतिशील मोर्चे की सरकार में भी यह भेद–भाव? क्या हिंदी सिर्फ हिंदुओं की भाषा है? मैंने एक सांस में मंजूर एहतेशाम, असगर वजाहत, मेहरुन्निसा परवेज, नासिरा शर्मा, अब्दुल्ला बिस्मिल्लाह, असद जैदी आदि के नाम लेते हुए पूछा कि क्या इनमें एक भी हिंदीसेवी कहलाने का हकदार नहीं है? इन सबकी हिंदी साहित्य में पहले से प्रतिष्ठा है। स्थायी समिति में नामवर सिंह भी थे। मैंने एतराज जताया कि उन जैसे विद्वान को एक भी उप–समिति में शरीक नहीं किया गया।

अध्यक्ष आनंद शर्मा ने मेरी आलोचना को ध्यान से सुना। वे बोलेः ''ये उप–समितियां मंत्रालय का अंतिम निर्णय नहीं हैं और माननीय सदस्य इन उप–समितियों में नाम जोड़ने और सुझाव देने के लिए स्वतंत्र हैं।'' जब निकलते हुए उनसे कहते हुए गया कि मुझे दूसरी बैठक में जाना है, उन्होंने कुछ सुझाव लिख भेजने को भी कहा।

अगली बैठक तक उप–समितियां संशोधित हो गईंः तादाद छह से ग्यारह तक जा पहुंची। और मजा देखिए। सदस्य–संख्या दुगुनी यानी पचास हो गई। और सुझावों का क्या हुआ? कुरबान अली और माजदा असद के नाम जोड़ लिए गए। नामवर सिंह ''सम्मेलन रिपोर्ट का प्रकाशन'' उप–समिति में शामिल किए गए। कहना न होगा, आहत नामवर जी ने इस हाशिये की उप–समिति में शामिल होने से इंकार कर दिया।

आलोक मेहता ने स्मारिका–न्यूजलैटर के काम में विष्णु नागर और मधुसूदन आनंद को लेने की राय व्यक्त की थी और श्रेष्ठ प्रकाशन (छपाई) के काम के लिए विश्वनाथ और अपने ''समर्पित'' प्रकाशक महेश भारद्वाज को जोड़े जाने की। आनंद का नाम एक समिति में जोड़ लिया गया। उप–समितियों से संबंधित बाकी सुझाव सिरे से गोल हो गए। डॉ. रत्नाकर पांडेय का एक सुझाव यह था कि आम प्रथा के मुताबिक स्थायी समिति के सदस्यों को ही उप–समिति का सदस्य बनाया जाना चाहिए।

सम्मेलन की संचालन समिति प्रभावहीन रही। उसे अंत तक पता नहीं चला कि सम्मेलन में कौन लोग शिरकत करेंगे।

आप समझते हों कि उप–समितियों के निर्णय मान्य यानी अंतिम रहे, तो भूल कर रहे होंगे। सबसे महत्त्वपूर्ण फैसला यह होना था कि गोष्ठियों के विषय और वक्ता–संभागी कौन होंगे। दूसरा यह कि हिंदी सेवा के लिए किन विद्वानों का सम्मान होगा। इनसे संबंधित दोनों उप–समितियों में रहे कुछ सदस्यों का कहना है, अंतिम सूची उप–समिति ने नहीं बनाई। कुरबान अली सांस्कृतिक कार्यक्रम उप–समिति में थे। उनके मुताबिक उसकी सिर्फ एक बैठक हुई और जो तय हुआ वह निर्णय बाद में बदल गया। किसी को भनक नहीं पड़ी कि पंकज उधास को गवाया जाएगा। जिस उप–समिति में मैं था, उसका भी यही हश्र हुआ। मीडिया समिति के लोगों को न्यूयॉर्क जाने वाले पत्रकारों के नाम नहीं मालूम थे। बल्कि नाम आखिरी घड़ी तक जुड़ते रहे। हर खाते से। मंत्रालय के लिए हर हिंदी वाला जैसे विदेश यात्रा का याचक था। कई पर्युत्सुक दीन–हीन याचक की मुद्रा में थे भी। एक जनवादी कवि ने मुझे ज्यादा नहीं तो बीस दफा जरूर फोन किया होगा, कि उन्हें इस सुयोग से क्यों वंचित रखा जा रहा है और जुगाड़ की जुगत क्या है!

सम्मानित किए जाने वाले साहित्यकारों के साथ अधिकारियों ने ऐसा सलूक किया जैसे भारी एहसान कर रहे हों। देर से खबर की, वह भी नितांत रूखी भाषा में। जाना हो तो फलां-फलां काम आप खुद कर लें। अशोक वाजपेयी को जाने की तारीख से चार रोज पहले तब फोन आया जब वे फ्रांस यात्रा के लिए सामान बांध रहे थे। बुजुर्ग साहित्यकार केदारनाथ सिंह को 'सम्मानित' होने के लिए ढेर औपचारिकताएं सुझा दी गईं। निमंत्रण के पत्र भी दोनों को नहीं मिले। बताया गया है कि मंजूरी के लिए नामों की सूची प्रधानमंत्री के पास दो बार गई। उनके यहां कौन-से नाम जुड़े यह तो नहीं मालूम, पर सभी सांसदों और विधायकों के नाम राष्ट्रपति चुनाव के मद्देनजर कट गए!

निमंत्रण पत्र केदारजी को सम्मेलन संपन्न होने के बाद मिला। पत्र का मजमून थाः "उप-समिति की संस्तुति पर शैक्षिक सत्र के लिए आपका आलेख मंत्रालय ने स्वीकार किया है। आपको पाठ के लिए पांच मिनट का समय दिया जाएगा। सम्मेलन में भाग लेने के संबंध में होने वाला संपूर्ण व्यय आपके द्वारा वहन किया जाएगा।"

ऐसे विचित्र पत्र स्थायी समिति के सदस्यों तक को भेजे गए। कैसे-क्यों, कोई नहीं जानता।

स्थायी समिति और उप-समितियों के कमोबेश सभी सदस्य भारतीय प्रतिनिधिमंडल में न्यूयॉर्क गए। उन्हें विशेष "सरकारी" पासपोर्ट मिले, तवज्जोह के साथ अमेरिका का दुर्लभ वीजा, महंगे होटल का बसेरा, खान-पान के साथ तीन सौ डॉलर का हाथ खर्च।

गौर करें कि 'सम्मानित हिंदी सेवियों' से लेकर सभी समितियों-उपसमितियों के सदस्य विमान के सबसे निचले दर्जे में गए। मंत्रालय के अधिकारी ऊपर की मंजिल पर सुसज्जित उच्च दर्जे में! कुछ संभागियों ने संपर्क या अतिरिक्त राशि से अपना दर्जा बढ़वा लिया, यह दूसरी बात है। जहां तक मुझे याद है, सूरीनाम सम्मेलन में पारामारिबो पहुंचने के लिए श्रीलाल शुक्ल, स्व. विद्यानिवास मिश्र, प्रभाषजी आदि वरिष्ठ लेखकों-पत्रकारों को उच्च दर्जे की सुविधा दी गई थी।

प्रसंगवश, और सदस्यों की तरह, मैंने अपने कुछ सुझाव संचालन समिति के अध्यक्ष को लिखकर भेजे। उस पत्र में कई साहित्यकारों के नाम दिए थे जिनमें सबको भले आमंत्रित न किया जाता, उनके योगदान की चर्चा हो सकती थी। कुछ नाम थे- कृष्णा सोबती, त्रिलोचन, कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह, राजेंद्र यादव, कृष्ण बलदेव वैद, कमलेश्वर (तब हमारे बीच थे), अशोक वाजपेयी, श्रीलाल शुक्ल, रमेशचंद्र शाह, विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल, नंदकिशोर आचार्य, प्रयाग शुक्ल, पुरुषोत्तम अग्रवाल, गिरिराज किशोर, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैत्रेयी पुष्पा, उदय प्रकाश, मंगलेश डबराल, अनामिका, अलका सरावगी, अरुण कमल, ऋतुराज, वीरेन डंगवाल, गगन गिल, गीतांजलिश्री, कात्यायनी, ओमप्रकाश वाल्मीकि, संजीव आदि।

मैंने लिखा कि नई पीढ़ी के साहित्यकारों को उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। यह कहते हुए कि हिंदी में दर्शन, शिक्षा, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर हिंदी में बोलने-लिखने वाले विचारकों की समृद्ध परंपरा बनी है, मैंने यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ, सच्चिदानंद सिन्हा, गिरीश मिश्र, कृष्ण कुमार, गुणाकर मुले, पूरणचंद्र जोशी, सुधीर चंद्र, भगवान सिंह आदि कुछ नामों का उल्लेख किया। कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकों के नाम भी सुझाए। इनमें किसी नाम के प्रति मेरा निजी झुकाव नहीं था। न उनमें ज्यादातर को विदेश यात्रा का कोई लालच होगा। पर खयाल है विश्व मंच पर उनसे हिंदी की समृद्धि की उजली तस्वीर बनती। लेकिन इनमें कोई नाम निर्णय लेने वालों- जो अब भी रहस्य के घेरे में हैं- को शायद नहीं जंचा। जो दो नाम आधे मन से उन्होंने चुने, उनका अपना वजन रहा होगा।

पत्रकारों के नाम पत्र लिखकर आलोक मेहता ने सुझाए थे। नौ नामों में एक को बुलावा गया। कहना मुश्किल है वह भी सुझाव से या संयोग से।

मृणाल पाण्डे ने आगाह किया, जोर देते हुए, कि मंत्रालय को संभागियों के चयन में निर्ममता दिखानी होगी। इसका साफ खाका बनना चाहिए कि किनको बुला रहे हैं और क्यों।

सैर हर विदेश यात्रा में होती है, लेकिन न्यूयॉर्क का सम्मेलन निपट सैर-सपाटे का आयोजन बनकर रह गया। जिसकी जैसे जिस तरह सूची में नाम जुड़वाने की सूरत हुई, जुड़वा लिया। संघ परिवार के नुमाइंदे जगह-जगह दिखाई देने लगे। जानदार आवाज वाले जसदेव सिंह स्थायी समिति के सदस्य थे। उन्होंने सूरीनाम सम्मेलन में आयोजन का संचालन किया था; यहां भी कर सकते थे। लेकिन उद्घोषिका शीला चमन संचालन के लिए दिल्ली से न्यूयॉर्क भेजी गईं। जसदेव सिंह पिछवाड़े बैठे बुदबुदाते रहे। राष्ट्रसंघ परिसर में महासचिव बान की-मून की मौजूदगी में जो असरदार उद्घाटन सत्र हुआ- वही सम्मेलन की उपलब्धि था- उसमें उद्घोषिका ने अपनी अंग्रेजी का तड़का लगाया। विरोध में ऐसा शोर उठा कि लगा राष्ट्रसंघ न हो, देसी नगर परिषद का हॉल हो।

कोई प्रधानमंत्री के नाम से वहां मौजूद था, कोई सोनिया गांधी के। एक अपने को राष्ट्रपति का ज्योतिषी बताता था। शायद था भी। उसकी हाजिरी में दूतावास की गाड़ी तैनात थी।

राज्यों से ऐसे प्रतिनिधिमंडल न्यूयॉर्क पहुंचे जिनके कई सदस्य ठीक से हिंदी बोल नहीं सकते थे। हरियाणा सरकार ने वहां साहित्य अकादमी के अन्य पदाधिकारियों को भेजा, कर्ताधर्ता राधेश्याम शर्मा को नहीं। केंद्र की साहित्य अकादेमी ने विश्वनाथ प्रसाद तिवारी और उदय प्रकाश के साथ प्रत्यूष गुलेरी को भेजा। अकादेमी की पत्रिका के संपादक अरुण प्रकाश समूह से बाहर रहे। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की तरफ से किन्हीं 'राजभाषा निदेशक' ने शिरकत की, विद्यालय की प्रतिष्ठित पत्रिका 'रंग

प्रसंग' के संपादक प्रयाग शुक्ल ने नहीं। विदेश मंत्रालय ने संभागियों की पात्रता की शायद ही पड़ताल की हो। आयोजन का स्तर निश्चित करने के लिए कोई उपाय तो होना चाहिए! धड़ल्ले से मंत्रालय के आधिकारिक पत्र अमेरिकी दूतावास को गए। किसी तरह अमेरिका यात्रा का सपना देखने वाले इसी तरह हिंदीसेवी बनकर सहर्ष वहां हो आए। कुछ अब भी वहीं हैं। लौटें तब लौटें।

ऐसे परिवेश में सम्मेलन का वही हश्र हो सकता था जो हुआ। गोष्ठियों में गंभीरता नहीं रही। अध्यक्ष-संचालक आखिरी घड़ी तक बदलते रहे। वक्ता बहके। भटके। 'युवा पीढ़ी और ज्ञान-विज्ञान' गोष्ठी के अध्यक्ष गोविंद मिश्र वक्ताओं को डपटते देखे गए। महाश्वेता देवी ने भले आने से इंकार कर दिया, इंदिरा गोस्वामी 'विदेशों में हिंदी सृजन' गोष्ठी की अध्यक्षता के लिए मौजूद थीं। हिंदी सम्मेलन में अंग्रेजी, बंगला, असमिया लेखकों के अलावा उर्दू के पूरणसिंह गुलजार 'हिंदी के प्रचार-प्रसार में हिंदी फिल्मों की भूमिका' सत्र की अध्यक्षता लिए निमंत्रित थे। बेहतर होता उसमें हिंदी को सचमुच इज्जत देने वाले निर्देशक को बुलाना चाहिए था। जैसे 'मायादर्पण' बनाने वाले कुमार शहानी या 'दुविधा', 'सतह से उठता आदमी' और 'नौकर की कमीज' के निर्देशक मणि कौल को। या के. बिक्रम सिंह को, जिन्होंने 'तर्पण' और 'सृजन' के अलावा तीस हिंदी कवियों का फिल्मांकन किया है, कुंवर नारायण और केदारनाथ सिंह पर वृत्तचित्र बनाए हैं। गोष्ठियों में 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' की चर्चा जरूर जानदार रही। इसमें भी कुछ वक्ताओं को न्यूयॉर्क पहुंचने पर बुलावे के पत्र थमाए गए।

सम्मेलन के इस शवशोधन के बाद दो बातें रह जाती हैं। एक यह सवाल- जो उठना चाहिए- कि जब स्थायी समिति की नहीं चली तो किसी को सम्मेलन में जाने की क्या जरूरत थी? इस मामले में मेरा विचार साफ है। मैं जानता हूं दुनिया मेरे नजरिए से नहीं चलती। मेरी तरह लोगों के अपने खयाल और पूर्वग्रह हैं। लेकिन अपनी बात जोखिम (?) उठाकर भी कहनी चाहिए। ज्यादातर लोग चुप रहे। बोले होते तो सूरते-हाल कुछ और होती। चुप रहने पर कैसे लोग आगे निकल आते हैं, इसे समझना चाहिए।

दूसरी बात, क्या ऐसी दुर्दशा के बाद विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन बंद कर देना चाहिए? अशोक वाजपेयी ने सुझाया है कि सम्मेलन पर खर्च होने वाली राशि कहीं और लगानी चाहिए। मैं इससे सहमत नहीं हूं। उन्होंने जो वैकल्पिक काम और योजनाएं सुझाई हैं, वे दुरुस्त हैं। लागू की जानी चाहिए। पर विदेश मंत्रालय का पैसा मंत्रालय ही खर्च कर सकता है। और हिंदी के नाम पर विभागों में धन का कब-कब प्रावधान होता है। इसलिए स्वीकृत पैसा खजाने में वापस न जाए।

लेकिन सम्मेलन का स्वरूप आमूल-चूल बदलना चाहिए। लाजिमी है कि सम्मेलन की योजना लोकतांत्रिक ढंग से अंजाम दी जाए। ऐसे काम में गोपनीयता का कोई मतलब नहीं। उप-समितियां संचालन समिति का महज अंग हों। आयोजन छोटे दायरे में हो, जितना संभाला जा सके। बीस नहीं,

एक या दो विषय बहुत होने चाहिए। विश्व सम्मेलन में विदेशी में हिंदी की सेवा करने वाले केंद्र में रहें। विदेश में प्रचार के लिए वहीं के मीडिया पर ध्यान दिया जाय, देश में प्रचार पर नहीं। राजनेताओं का दखल आयोजन में न हो। प्रधानमंत्री का भी नहीं।

निश्चय ही यह आसान काम नहीं है।